कृष्णा सोबती

प्रेम की स्त्री-भाषा

रश्मि रावत

कालजयी साहित्यकार कृष्णा सोबती (1925-2019) को पढ़ते हुए यह ख़याल बार-बार सिर उठाता है कि लेखक के लिए राजनीतिक विचारधारा ज़रूरी है, या राजनीतिक पक्षधरता। उनके जीवन और लेखन में बहुत गहरी और एकदम साफ़ राजनीतिक पक्षधरता दिखाई पड़ती है, मगर विचारधारात्मक प्रतिबद्धता नहीं। नरेंद्र मोदी के नेतृत्व वाली भारतीय जनता पार्टी सरकार के ख़िलाफ़ जिन कुछ लेखकों ने आवाज़ उठाई, उनमें कृष्णा सोबती शायद सबसे बड़ी हैं। आज अगर वे होतीं तो 2019 के चुनावी परिणाम उन्हें मायूस करते, लेकिन उनका जीवट एक नयी और लम्बी लड़ाई के लिए सबको हौसला भी देता। कृष्णा सोबती बतौर ज़िम्मेदार लेखक और जागरूक नागरिक देश की सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था को लेकर हमेशा सक्रिय रही हैं। शब्द सोबती की बहुत बड़ी ताक़त हैं और विरोध के कारगर हथियार भी। पिछली आधी सदी से साहित्य के पृष्ठों पर व्यंजना के सहारे उनकी भाषा पाठकों को संवेदित करती रही है। साथ ही प्रासंगिक मुद्दों पर अभिधा में बोले गये उनके शब्द पूरे माहौल को नयी ऊर्जा से भरने में सदा सक्षम रहे हैं। सत्ता के संवेदनहीन निर्णयों पर अपना रोष प्रकट करने में उन्होंने कभी कोताही नहीं की। मसलन, सरदार सरोवर बाँध से जिन हज़ारों आदिवासियों को विस्थापन की पीड़ा झेलनी पड़ती, उनके प्रति गहरे सरोकार के साथ राष्ट्रपति को लम्बा काव्यात्मक पत्र उन्होंने लिखा था, 'हम भी लोकतंत्र के भागीदार हैं/ हमसे हमारे होने को ही क्यों समेटा जा रहा है /... क्या हम आपके गणतंत्र की सौतेली संतानें हैं।' राष्ट्र की भारतीय निर्मिति के एकाश्म अर्थग्रहण से उन्हें सख़्त गुरेज़ रहा। उनका मानना था कि 'दूसरेपन के सम्मान' के लिए हमारी परम्परा में हमेशा से आदर रहा है। उनके मुताबिक़ साझी संस्कृति के ताने-बाने समाज की अंदरूनी शक्ति से जुड़े थे न कि 'सेकुलरिज़म' की किसी कृत्रिम अवधारणा से। वे मानती थीं कि राष्ट्र की आत्मा में स्पंदित महाकाव्यात्मक आख्यान को बचाने की

> *ज़िंदगीनामा* में दिखता है। इस रचना की भाषा में पंजाब का ठेठ अक्खड़पन है। वहीं की बोली-बानी में परिवेश को सजीव किया गया है। कृति में धड़कता तो है अंचल विशेष ही, मगर इसकी संवेदना दुनिया की किसी भी आबादी से जुड़ती है। पंजाब के खेतिहर लोगों के अपने भाषा-संस्कार में लिखे होने के कारण पंजाबी-उर्दू से अपरिचित हिंदीभाषियों को इस कृति को पढ़ने में दिक़्क़त आयी। किंतु लेखिका का स्पष्ट मत था कि अंचल के रंग, गंध, स्पर्श में रली-मली भदेस भाषा में ही इंसानी गरमाहट आकार ले सकती है। इन बोलियों से हिंदी समृद्ध ही होगी क्योंकि लोकभाषाएँ अपनी ताक़त धरती से खींचती हैं और इसी भाषा में ज़िंदा विचार वहन किया जा सकता है।

कोशिश एक ईमानदार लेखक को करनी ही चाहिए और उसे सत्ता-प्रतिष्ठान से दूर ही रहना चाहिए। 2010 में उन्होंने यह कहते हुए पद्मभूषण लेने से मना कर दिया था, 'साधारण आदमी की भी अपनी विशिष्टता होती है। मैं उनकी नुमाइंदगी करती हूँ तो मुझे इस्टैब्लिशमेंट से दूर रहना चाहिए, ताकि जब मैं कुछ लिखना चाहूँ तो लिख सकूँ।'

नब्बे की उम्र पार करने के बाद भी विरोध की ऊर्जा वे अपने भीतर से वे खींच ही लाती थीं। वरना दिल्ली के मावलंकर हॉल में एक नवम्बर, 2015 को ऐसी प्रचण्ड ऊर्जा नहीं पैदा हो सकती थी जो सत्तासीन सरकार की असहिष्णुता के प्रतिरोध में उनके वक्तव्य की गर्जना से वहाँ गूँजी। 'पहले बाबरी, फिर दादरी और हिंदुत्व के नाम पर फिर बहादुरी, नपुंसक बहादुरी' जैसे वाक्यों की अनुगूँज दूर तक सुनाई पड़ी। बुद्धिजीवियों और लेखकों की स्वतंत्रता पर हमले के ख़िलाफ़ उन्होंने बड़ी तत्परता से विरोध दर्ज किया था। जिन मूल्यों को अपनी कृतियों में उन्होंने स्थापित किया उनकी रक्षा के लिए जीवन-जगत में भी मुस्तैदी से टिकी रहीं। *जनसत्ता* के तत्कालीन सम्पादक ओम थानवी के इन शब्दों से उनके मुखर विरोध की ताक़त को समझा जा सकता है, 'ऐसे में राजपथ पर पुलिस के हिंसक रवैये पर कृष्णा सोबती का फ़ोन पर व्यथा प्रकट करना मेरे लिए मार्मिक क्षण था। और 31 दिसम्बर को उनका यह कहना कि, कुछ लिखा है, अगर जनसत्ता में प्रकाशित करना चाहें। ...नब्बे वर्ष की उम्र को छूते हुए और गर्दन की पीड़ा से जूझते हुए वे आँखों पर बहुत बड़ा चश्मा लगाती हैं, ख़ुर्दबीन के सहारे पढ़ती हैं और स्केच पेन से बड़े-बड़े हर्फ़ों में लिखती हैं। लेकिन स्वाधीन राष्ट्र की सम्प्रभुता के प्रतीक राष्ट्रपति के नाम उन्होंने पत्र की शक्ल में अपनी पीड़ा, फ़िक्र और सरोकारों को अपने धारदार गद्य में जिस तरह पिरोया, उसने मुझे एक अजीब ख़ालीपन के एहसास से उबरने में बड़ी मदद की ...।'

अपनी सारी धनराशि और सम्पत्ति साहित्यिक सरोकारों के लिए दे कर जाना भी दिखाता है कि उन्हें समाज में लेखक की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण लगती थी। रचनाकारों के समय और ऊर्जा की इज़्ज़त की जाए और उन्हें संसाधनों का अभाव न हो, इस बात के लिए वे फ़िक्रमंद थीं। हिंदी में उनके अतिरिक्त शायद ही कोई इतना वरिष्ठ साहित्यकार दूसरा हो जो अपनी पाण्डुलिपि पढ़ने और पेपर छाँटने के लिए अपने से कनिष्ठ लेखक को अच्छा-ख़ासा मानदेय देता हो। लेखकों के लिए मन में इतनी ऊँची जगह होने के कारण ही उनके अपने दायित्वों से डिगने और सफलता के लिए तिकड़में करने को वह कभी पचा नहीं पायीं। साहित्यिक भ्रष्टाचार पर उनका रोष कृष्ण बलदेव वैद के साथ उनके संवाद में और *शब्दों के आलोक में* पुस्तक में जगह-जगह फूटा है।

कृष्णा सोबती को इस बात की साफ़ समझ थी कि जीवन, समाज और राजनीति सब एक-दूसरे से गुँथे हुए हैं। उन्होंने राजनीति को वैचारिक साँचे के भीतर से नहीं, अपितु अपने जीवन-अनुभव की

तरह देखा था। उनके पास विभाजन के अनुभव थे, स्त्री की स्थिति के अनुभव थे, दफ़्तरी राजनीति की बजबजाती ज़िंदगी के अनुभव थे। उनके जीवनानुभवों का कैनवस बहुत बड़ा है। उनकी हर कृति नये विषय और नयी भंगिमा के साथ पाठकों के सामने आयी। उन्होंने कभी ख़ुद को दोहराया नहीं। जब देश स्वतंत्र हुआ तब वे बाईस साल की थीं। इन वर्षों में वे बहुत सी उठापटकों से वे गुज़रीं। पाकिस्तान के गुजरात में सन् 1925 में उनका जन्म हुआ। लाहौर में उन्होंने लम्बा समय गुज़ारा। विभाजन के भयावह अनुभव से गुज़रने के बाद दिल्ली से होती हुई भारत के गुजरात पहुँची। इस दौरान झेली गयी हिंसा और यातना का अनुमान इससे भी किया जा सकता है कि जिस विभाजन का दंश सोबती की चेतना में हमेशा बना रहा, उसी विभाजन के अपने अनुभव लिखने की हिम्मत करने में उन्हें पूरे सात दशक लग गये। 'सिक्का बदल गया', 'आज़ादी शम्मोजान की', 'मेरी माँ कहाँ', 'डरो मत मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा' कहानियाँ तथा *चन्ना* उपन्यास विभाजन की विषय-वस्तु पर लिखी गयी रचनाएँ हैं तो *ज़िंदगीनामा* उपन्यास के मूल में पंजाब के सीमांत खेतिहर गाँव की साझी संस्कृति की सूक्ष्म पड़ताल के ज़रिये उन बारीक़ दरारों की खोज करना है जो बाहर से शांत दिखते देश-काल के भीतर ही भीतर कहीं ख़ामोशी से पल रही होती हैं। उन्हीं दरारों को तो सियासत अपने हक़ में जनता के विरुद्ध इस्तेमाल करके चौड़ा करती जाती है और इंसान बँटता जाता है। विभाजन एक अनवरत प्रक्रिया है जो एक बार घट जाने पर व्यतीत नहीं होती, बल्कि देश-काल में विभाजनकारी शक्तियों को हमेशा के लिए सक्रिय कर देती है। सत्ता इन शक्तियों को अपने स्वार्थ हित के लिए बनाए रखती है।

विभाजन सोबती की संवेदना भूमि का मूल स्वर है। 91-92 वर्ष की उम्र में लिखी रचना *गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान* में उस दुर्दांत हिंसा की स्मृतियों और दु:स्वप्नों के चंद टुकड़े पुस्तक में दर्ज हैं जिससे गुज़र कर उन्होंने अपनी बचपन की सहेली समेत कई अपनों को खो दिया था। रूह को लहूलुहान करने वाले भीषण अनुभव रचना में साकार तो किये ही गये हैं, पर अधिक उकेरा गया है उस जीवट को जो सब चुक जाने पर भी सोचता है, 'पर तुम ख़ुद तो हो अपने आप में'। और अपने भीतर से नये व्यक्तित्व को उगाता जाता है। उनकी बचपन की सहेली बिम्बो की माँ को छाती पीट-पीट कर रोते-पिटते देख कर सबका दिल दहल जाता था। 'हाय दुश्मनों उसे वहीं रख लिया होता। उसका चोला बदल दिया होता। उसकी बाँहें क्यों काट फेंकी ? ...अरे सरकार वालो-कुर्सियोंवालो, तुम्हारी भी वहीं जाए जहाँ हमारी पली-पलाई सजरी परणाई बेटी गयी। अरे ख़लकत को बचाने के लिए तुम्हारे पास पुलिस-फ़ौज नहीं थी तो क्यों बँटवारा माना था। बापू गाँधी, तुम क्यों चुप हो ? जिस नेहरू को तुमने अपना पुत्र बनाया, उससे अपना हुक़्म क्यों न मनवाया !' इसी अनुभव पर उन्होंने 'डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा' कहानी उन्होंने लिखी थी। एक पन्ने की कहानी। 'डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा' बुदबुदाते-बुदबुदाते पथराई आँखों, सूखे बाल और नीले अधर लिए निर्जीव से लड़के की जान निकल जाती है। उसकी मिट्टी मिट्टी से मिल गयी। लेखिका को लगता है कि मिट्टी से धीमी-सी आवाज़ अब भी उठती जा रही है, 'डरो मत, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा'। अपने अनुभवों को सोबती इस सजगता के साथ साकार करती हैं कि पाठक पर अंतिम प्रभाव आदमियत की उस कौंध का होता जो हर कालिख को चीर कर किसी तरह अपना अस्तित्व बचा ही लेती है। जैसे 'मेरी माँ कहाँ ...' कहानी में बलोच रेजीमेंट के युनूस ख़ाँ को अपने से कोई मुहब्बत नहीं। 'वतन के आगे अपना कोई ख़याल नहीं। क्रांति बिना ख़ून के नहीं आती। और इसी क्रांति से तो उसका नन्हा सा वतन पैदा हुआ है जिससे बढ़ कर उसके लिए कुछ भी नहीं।' इस तर्क से अनेक लोगों की जान ले चुका युनूस रक्त से भीगी सलवार में मूर्छित पड़ी एक छोटी बच्ची को देख कर रहम और मोहब्बत से भर उठता है। ख़ून बहाने वाले हाथ शिथिल पड़ जाते हैं। अब वह किसी भी तरह बच्ची को बचाने के लिए बेचैन है और इस बेचैनी ने ही वतन के लिए हिंसा को जायज़ ठहराने वाले उसके तर्कों को सुन्न करके उसे आदमी बना दिया है।

> उनकी कई रचनाओं में भविष्य में उभरने वाले अस्मिता-विमर्शों की बारीक-सी पदचाप भी सुनाई पड़ती है। उन्हें समझ है कि हाशिये की सभी पहचानें देर-सवेर सिर उठाएँगी ही, इसलिए उन्हें बराबरी का नागरिक मानने की और उनका हक़ देने की तालीम सभी को जुटा लेनी चाहिए। अतीत की व्यवस्थाओं का ध्वंस उन्हें ज़रूरी लगता है, मगर फिर भी उसकी ढहती संरचनाओं के भीतर से अतीत के सौंदर्य और भव्यता को वे पूरे मन से साकार करती हैं।

पाकिस्तान से विस्थापित हो कर अपनी हवेली-जायदाद सब लुटा कर भारत के गुजरात में टिन के कमरे में किसी तरह अपनी गुज़र-बसर करने वाली मौसी से लेखिका की मुलाक़ात होती है तो 'मौसी-भाँजी ने एक-दूसरे की ओर बाँहें बढ़ा दीं। ऐसी सावधानी से कि बँटवारे वाले आँसू न निकल आये। दोनों मुस्करा-मुस्करा एक-दूसरे से आँखें चुराती रहीं और आँखों की नमी को बचाती रहीं।' ऐसी ही सावधानी से आँखों की नमी बचाते हुए कृष्णा सोबती ने विभाजन की मर्मांतक पीड़ा को पन्नों में चित्रित किया है। वह भूखण्ड, वह कालखण्ड, जो पैर के नीचे से सरक कर समय में खो गया, जिससे लेखिका का वजूद जुड़ा हुआ था, उस के जनजीवन को उसी के मुहावरे में उसी देश-काल में पकड़ कर पन्नों में सदा के लिए सुरक्षित करने का उपक्रम *ज़िंदगीनामा* में दिखता है। इस रचना की भाषा में पंजाब का ठेठ अक्खड़पन है। वहीं की बोली-बानी में परिवेश को सजीव किया गया है। कृति में धड़कता तो है अंचल विशेष ही, मगर इसकी संवेदना दुनिया की किसी भी आबादी से जुड़ती है। पंजाब के खेतिहर लोगों के अपने भाषा-संस्कार में लिखे होने के कारण पंजाबी-उर्दू से अपरिचित हिंदीभाषियों को इस कृति को पढ़ने में दिक़्क़त आयी। किंतु लेखिका का स्पष्ट मत था कि अंचल के रंग, गंध, स्पर्श में रली-मली भदेस भाषा में ही इंसानी गरमाहट आकार ले सकती है। इन बोलियों से हिंदी समृद्ध ही होगी क्योंकि लोकभाषाएँ अपनी ताक़त धरती से खींचती हैं और इसी भाषा में ज़िंदा विचार वहन किया जा सकता है।

15 अगस्त, 1947 का दिन। देश में स्वतंत्रता के समारोह का जश्न ज़ोर-शोर से मनाया जा रहा है। 'आज़ादी शम्मोजान की' शम्मोजान और मुन्नीजान का आज़ादी के इस दिन का जो पाठ है, उसके माध्यम से व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य किया गया है। जब उन्हें बहला-फुसला कर कोठे तक पहुँचाते वक़्त कहा गया था कि अब वे आज़ाद हो गयी हैं। अपनी इस तथाकथित आज़ादी की दिनोंदिन बढ़ती विकृति और कुरूपता को वे रोज़ झेलती हैं इसलिए 'देश आज़ाद हो गया' सुन कर अट्टहास कर रही हैं कि जो आज़ादी उनके पास वर्षों से है वह देश को आज मिली है।

कृष्णा सोबती का इतिहास-बोध साफ़ है। वे विषय-वस्तु को काल के उस मोड़ से उठाती हैं, जहाँ इतिहास की धार टूटती है। समृद्ध और अनूठी भाषा तथा अनुभवों का विराट संसार उनके पास है। इसलिए समय की दहलीज़ पर खड़े होकर इस और उस पार की बनती-बिगड़ती दुनिया को इस ख़ूबसूरती के साथ वे साधती हैं कि पाठक ढहते हुए युग की धड़कनें सुन सकता है। साथ ही भविष्य की पदचाप का बोध भी ग्रहण कर पाता है। 'सिक्का बदल गया' कहानी ज़मींदारों और सामंतों के हाथ से सत्ता फिसल कर नये लोगों के पास जाने के बीच की धार पर अवस्थित है। केंद्र में हैं शाह-शाहनी (ज़मींदार/सामंत)। कहानी मुख्यत: लिखी ही गयी है शाहनी के कोण से। विपरीत परिस्थितियों में सबके प्रेम के बीच सब पर आशीष बरसाती हुई शाहनी बड़ी गरिमा से राज बदलने के सच को ग्रहण करती है। किसी के लिए दिल में मैल लाए बिना जगह छोड़ती है। उस अंचल से जुड़ी हर चीज़ से शाहनी को इतना अधिक मोह है कि वह कुछ भी वहाँ से ले नहीं जाना चाहती। उन चीज़ों की क़ीमत उस भू-भाग विशेष में रहने से ही है। शाहनी का व्यक्तित्व भी उसी अंचल से जुड़ने पर सार्थक होता है। जब असली सोना, जैसे खेत,

नदियाँ, प्रकृति छोड़नी ही है तो नक़दी और जेवर ले जाने से क्या बनेगा। अपनी मिट्टी, पानी, प्रकृति, लोगों से इतनी गहरी आत्मीय सम्बद्धता के भीतर से ही तो असल देशप्रेम उपजता है।

उनकी कई रचनाओं में भविष्य में उभरने वाले अस्मिता-विमर्शों की बारीक-सी पदचाप भी सुनाई पड़ती है। उन्हें समझ है कि हाशिये की सभी पहचानें देर-सवेर सिर उठाएँगी ही, इसलिए उन्हें बराबरी का नागरिक मानने की और उनका हक़ देने की तालीम सभी को जुटा लेनी चाहिए। अतीत की व्यवस्थाओं का ध्वंस उन्हें ज़रूरी लगता है, मगर फिर भी उसकी ढहती संरचनाओं के भीतर से अतीत के सौंदर्य और भव्यता को वे पूरे मन से साकार करती हैं। वर्चस्व-सम्पन्न उन लोगों के प्रति भी लेखिका के मन में सहानुभूति है जिन्होंने अपनी इंसानियत को महफ़ूज़ रखा है। मध्यकालीन नैतिकता के सौंदर्य बोध को खुले मन से उकेरने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता।

सोबती दो साल सिरोही के राजकुमार तेज़सिंह की गवर्नेस भी रहीं। रियासतों के तौर-तरीक़ों को भी उन्होंने क़रीब से देखा कि शासन का रुतबा किस तरह इस वर्ग के ख़ून में बहता है। राजमहल का हवा-पानी, पूरा माहौल ही ऐसा है कि राज-बोध बचपन से ही भीतर तक पुष्ट कर दिया जाता है। इन अनुभवों को उनकी 'खम्माघणी, अन्नदाता' कहानी बयाँ करती है। राजा के रूप में अंतिम रात बिताने पर राजा के मन में बेतरह आँधियाँ चल रही हैं। अगली सुबह उनकी रियासत लोकतंत्र में जनता के हाथों चली जाएगी। यह तथ्य वह स्वीकार नहीं कर पा रहा है और उसका मानसिक संतुलन बिगड़-सा गया है। राजा को लग रहा है कि जनता अंधी है, इतिहास अंधा हो गया है। हमारी सत्ता में ही प्रजा का हित और सुख था। देर-सवेर जनता को राजा की ज़रूरत पड़ेगी ज़रूर। अभी तो लगता है इतिहास रास्ता भूल गया है। जनतंत्र राजा की कल्पना में अँट ही नहीं पा रहा है। 'वे इतिहास के पहियों को मनमानी नहीं करने देंगे। यह तो अन्याय है कि जिधर सड़क नहीं है, उधर को ही हो पहिये। आख़िर रास्ता देख कर ही तो चलना चाहिए इतिहास को भी। यह तो सारथी का कार्य नहीं कि एक अन्याय को मिटाने के लिए दूसरा अन्याय करे।' जनता की अवज्ञा राजा से क़तई नहीं झेली जा रही है।

सोबती के साहित्य में जगह-जगह चलने का, पहाड़ियों-वादियों को जूतियाँ पहन कर नापते जाने का इतना अधिक वर्णन आता है कि लगता है कि उन एक जोड़ी जूतियों में माँ-बेटी दोनों यात्रा कर रहे हैं। चलने की सुखद थिरकन, रोटी की लहक, पहाड़ों की चढ़ाई-उतराई ... ज़िंदगी की तमाम सुखद हलचलों से उनके पन्ने भरे होते हैं। सोबती से पहले चाव से खाते-पीते, चलते-दौड़ते स्वस्थ, गतिशील स्त्री व्यक्तित्वों का स्त्री साहित्य में अभाव था। उनकी रचनाओं से ताक़त पाने वाली स्वस्थ जीवन-बोध ग्रहण करने वाली स्त्रियों की दूर-दूर तक बेल फैल गयी है। उनके भीतर कृष्णा सोबती भी सदाजीवी हो गयी हैं।

स्त्री-सशक्तीकरण में कृष्णा सोबती की रचनाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने अपनी कृतियों में चन्ना, मित्रो, रत्ति, महकबानो, लड़की, अम्मू, पासो, मन्नो जैसे व्यक्तित्व-सम्पन्न पात्र रच कर सामान्यीकरण की सूक्ष्म हिंसा का रचनात्मक प्रतिकार किया है। वर्चस्वशाली वर्ग की प्रवृत्ति होती है कि वह हाशिये के लोगों की वैयक्तिकता की उपेक्षा करके उन्हें एक सामान्यता के साँचे में ढाल कर देखता है। परम्परा को ठेंगा दिख़ाने वाली तेज़-तर्रार स्त्री हो, या गृहस्थ रस में आनंदमग्न कोई पारम्परिक स्त्री— बने-बनाए संकीर्ण साँचों में सोबती के स्त्री पात्र नहीं अटते। उनके व्यक्तित्व का ताप इन साँचों को पिघला कर समय के पृष्ठ पर सशक्त हस्तक्षेप करता है। उनके पुरुष पात्रों का सामान्यीकरण किया जा सकता है, उनमें व्यक्ति वैशिष्ट्य प्राय: नहीं है। वे बस पितृसत्तात्मकता का वहन करने वाले

प्रतिनिधि पात्र हैं। 'दादी अम्मा' कहानी में गृहस्थ रस का सरस चित्रण किया गया है। परिवार के भीतर की सारी हलचलें स्त्री-सदस्यों के दम से है। सास से बहू, फिर उसकी बहू ... बहू-दर-बहू परिवार की सत्ता स्थानांतरित होती जाती है। परिवार-वृक्ष फलता-फूलता जाता है। वह दादी अम्मा का परिवार कहलाता है। पुरुष पात्रों का तो उसमें नाम तक नहीं है। वे तो मानो बस निमित्त मात्र हैं बहू लाने के लिए। नामालूम-सी उपस्थिति भर है उनकी। समाज की मूलभूत इकाई परिवार की बागडोर पकड़ा दी लेखिका ने स्त्रियों के हाथों। कृष्णा सोबती जैसी खुद्दार शख़्सियत अपने चरित्रों को अपनी सहानुभूति कभी नहीं देती। उनकी नायिकाएँ अपने दम-ख़म से पन्नों पर भरपूर ढंग से जीवंत होती हैं— मानो ललकारती हुई कह रही हों कि जीवन की सभी महत्त्वपूर्ण हलचलें, ज़िंदगी का सब रस हमारे दम से है। ठीक है काल के किसी मोड़ पर इतिहास के हर महत्त्वपूर्ण स्थल पर नाम लिख लिया होगा पुरुषों ने अपना।

उनकी पारम्परिक नायिकाएँ भी रोती-बिसूरती नहीं, तो फिर अपने तेज़ से हिंदी के साहित्य जगत में विक्षोभ उत्पन्न करने वाली मित्रो के मनोबल के तो क्या कहने। पति सरदारी लाल उसे मारता है तो ज़रा भी आँखें नहीं झुकाती। उसकी पितृसत्ता का संज्ञान तक नहीं लेती— बस कहती है कैसा पुरुष है जिसे स्त्री से व्यवहार करना तक नहीं आता। मानो उफनते दूध में ठण्डे पानी की छींटें दे कर सत्ता के अभिमान को फुस्स कर रही हो। ये स्त्रियाँ अधिकार को पूरे चाव से ऐसी भंगिमा में जीती हैं कि शोषक का ख़ुद ही मनोबल टूट जाए। पुरुष को सत्ता के औज़ार भोथरे से लगने लगते होंगे जब स्त्री की आँखों में प्रेम, ममता, गृहस्थ रस की स्निग्ध तरलता की चमक तो दिखती है पर वंचना की पीड़ा और आत्मदया का धुँधलापन नहीं। आत्मविश्वास से भरपूर ऐसी स्त्री के सामने पितृसत्तात्मकता के शस्त्र व्यर्थ होते दिखते हैं। मध्यवर्गीय पारिवारिक सौंदर्य और उसकी सीमा दोनों ही सोबती के साहित्य में बखूबी सजीव हुए हैं। परम्परा के उज्ज्वल पक्ष को कितना ही सराहा जाए; परिवार में हर सुबह नये सूरज के उगने जैसे कितने ही जीवन रस छलकाते, उमगते, सरसते चित्र खींचे जाए; मगर किसी विधवा, निस्संतान, अविवाहित स्त्री या संसाधनहीन लोगों से मुठभेड़ होते ही एहसास हो जाता है कि इन सुखों के सौंदर्य की चौहद्दी कितनी सीमित है और चौहद्दी के बाहर कौन रहेगा-भीतर कौन, यह भी क़ाबिलियत से नहीं क़िस्मत से ही तय होता है। तो ज़ाहिर है कि अपनी आगे की कृतियों में वे आधुनिक मूल्यों को खोजने के क्रम में सामयिक विमर्शों और सिर उठाती पहचानों और तर्कों को खँगाल कर देखती हैं।

उनके अंतिम उपन्यास *समय सरगम* में कई विमर्श शरण्या और ईशान की बातचीत में सीधे तौर पर आये हैं। सबसे मुखर है, परिवार-ढाँचे की प्रांसगिकता। शरण्या का स्पष्ट मत है कि परिवार की सुव्यवस्थित अस्मिता और गरिमा का मूल्य भी उन्हें चुकाना होता है जिनका खाता दुबला हो। 'ऐ लड़की' में भी बच्चा बनाने को दुनिया का महानतम काम मानने वाली और समृद्ध खुशहाल पारिवारिक ज़िंदगी को डूब कर जीने वाली ज़िंदादिल माँ भी यह कहती है कि परिवार का चप्पू चलाने में स्त्री का कोई आपा नहीं बचता। पत्नीत्व और मातृत्व में स्त्री का सारा व्यक्तित्व होम हो जाता है। 'चन्ना' में भी विवाह-पूर्व अध्यापिका रही श्यामा के घर में पति के मरने के बाद किताबों की आलमारी पहली बार दिखती है, वर्ना व्यक्तित्व के सारे आयाम पति में समाहित थे। 2019 में छपे किंतु सबसे पहले लिखे गये उपन्यास *चन्ना* की मुख्य पात्र चन्ना शाह-शाहनी की एकमात्र पुत्री की पुत्री अपने ननिहाल और ददिहाल के घर की एकमात्र संतान है। उसे बचपन से ही लड़कों की तरह पाला गया है। शारीरिक, मानसिक क्षमताओं में वह लड़कों पर भारी ही पड़ती है। कमतर तो किसी तरह नहीं है। निर्णायक क्षमता से भरपूर ठोस व्यक्तित्व की सबकी लाडली चन्ना को जीवन के हर महत्त्वपूर्ण मोड़ पर लड़की होने के कारण बेदख़ल होना पड़ता है। नाना और पिता की मृत्यु होने पर दोनों ही घरों की पूरी विरासत दूर-दराज़ के संबंधियों को मिलती हैं जिनकी एकमात्र योग्यता उनका पुरुष होना होता है। चन्ना मन

में स्त्री-सुलभ प्रेम की, मातृत्व की इच्छाएँ होते हुए भी वह विवाह का रास्ता नहीं अपनाती, क्योंकि उस समय परिवार में स्त्री की उपस्थिति का एकमात्र तरीक़ा अपने व्यक्तित्व का विलय करके रहने का ही था और वह नाना की ज़मींदारी सँभालना चाहती है, क्योंकि नाना के मरने के बाद जिन नालायक़ हाथों में सत्ता गयी है, उससे गाँव वालों का और धरती का भी काफ़ी अहित हो रहा है। चन्ना की किशोरावस्था में उसकी देह के बदलाव और जैविक क्रियाओं के उस पर प्रभाव का भी उपन्यास में वर्णन है। अपनी देह के भीतर सहज ढंग से निवास करने के लिए शारीरिक परिवर्तनों के प्रति सहज होना ज़रूरी है, 50 के दशक में भी लेखिका ने समझ लिया था और इस विषय पर अकुंठ भाव से लिखा।

सोबती के साहित्य के बहुकोणीय दर्पण में हर कोई अपना-अपना अक्स देख कर उसकी सराहना तो कर लेता है किंतु उनके साहित्य पर मुकम्मल काम अब तक नहीं हुआ है। इस मामले में कृष्णा सोबती मित्रो जितनी भाग्यशाली नहीं रहीं। मित्रो के लिए परिवार भी अपनी लचक बढ़ाता है, दायरा बढ़ाता है। कृष्णा सोबती की लेखनी की आमद से हिंदी साहित्य में जो स्पेस बनना चाहिए था वह नहीं बना। उनके साहित्य की बहुस्तरीयता से संवाद तक होता नहीं दिखाई देता। सातवें दशक में स्त्री-विमर्श के प्रभाव से हिंदी में जिन मुद्दों पर बात होनी शुरू होती है, वे सब कृष्णा सोबती पाँचवें छठे दशक में ही उठा रही थीं।

सोबती की बहुचर्चित पात्र मित्रो को आलोचकों ने निरी शारीरिकता से जोड़ कर देखा है, जबकि मित्रो एक व्यक्तित्व-सम्पन्न सचेतन चरित्र है जिसे देहबोध के साथ-साथ कालबोध भी है। वह देह की कामनाओं को भी जानती है और समय के साथ उसके छीजते जाने को भी। इसलिए समय रहते भरपूर जीना चाहती है। मगर उसके जीने में मन बाँटना, थाली बाँटना, सुख-दुख बाँटना, धन बाँटना सबका सब आता है। अपने पति सरदारी लाल की एक नज़र के लिए उसके आगे-पीछे डोलती रहती है। वह आँख उठा के देख भर ले तो इमरती बन जाती है। ये तो साहचर्य से उत्पन्न प्रेम रस है। वह निरी देह नहीं मगर निरी स्त्री है। मित्रो-सी अकुंठ निरी स्त्री को देखने की आँख सभ्यता के पास नहीं है इसलिए जिस संयुक्त परिवार में वह ब्याही गयी है, वह उस पर तरह-तरह की तोहमतें जड़ता है। मगर साथ रहते-रहते मित्रो के भीतर से बजने वाले आदिम राग की तरंगें परिजनों तक भी पहुँचने लगती हैं। पोर-पोर रस की गगरिया है मित्रो। उसके बतरस, दर्शन रस का सबको चाव होने लगा है। जिधर ही वह जाती है ननदिया, जिठानी मोहबिद्ध से बिंधे चले जाते हैं उसी ओर। दूसरी ओर जिठानी का बेशर्त बेशुमार स्नेह और सास-ससुर की ममता की छाँव में रहते हुए संयुक्त परिवार में मित्रो की आंतरिकता का भी विस्तार होता है। मित्रो के साहचर्य में सरदारी लाल के प्राणों में भी आदिम जीवन-राग का संगीत जगने लगा है। मन में पूरी जाग लगती है तो तन जागता है। मित्रो तो रोम-रोम तन-मन को जीना जानती है। ज़िंदा गरमाहटों का अपना भी तो व्याकरण होता है, वह तो उसी से संचालित होती है। सभ्यता के परदों के भीतर से जीवन को देखना वह नहीं जानती इसलिए उसे एहसास ही नहीं है कि अपनी ही देह की किसी तह में छिपी हुई रस की पोटली को उसे चोरी-छिपे दबे-ढके-अँधेरे पलों में उड़ा ले भागने की तकनीक साधनी है। इन पलों का दिन के बाक़ी हिस्सों से कोई संबंध नहीं। संयुक्त परिवार में पले उसके पति का भावबोध तो ऐसा ही होगा। रचना के अंत तक एक-दूसरे की संगत में विकसित होते हुए ज़िंदगी की साँझी लौ उन्होंने पा ली है। उस पल के संक्षिप्त मगर बेहद जीवंत चित्रण में ही कृति पूरी हो जाती है। उस पल में ठोस मांसलता है जो चेतना के पूरे जगने से ही सम्भव है, उस पल की कोख से एकनिष्ठता और साझा भविष्य, स्थायित्व फूटते दिखते हैं। पर नैतिकता के निर्वहन के तौर पर नहीं। दो प्राणों के स्पंदनों के चरम बिंदु सधने से उत्पन्न संवेग की उछाल से यह

लम्बे साहचर्य की राहें फूटती हैं। *मित्रो मरजानी* के अंतिम वाक्य से लगता है मानो अब जा के सरदारी लाल को उसने असली पुरुष बना ही डाला, ऐसा पुरुष जिसे स्त्री-मन समझने की सलाहियत हो। 'फिर बाँहों से अँगड़ाई ली, हाथों को चटखा-मुरका उठ बैठी। सैयाँ के हाथ दाबे, पाँव दाबे, सिर-हथेली ओठों से लगा झूठ-मूठ की थू कर बोली-कहीं मेरे साहिबजी को नज़र न लग जाए इस मित्रो मरजानी की।'

स्त्री-विमर्श ने इस कृति में देह-विमर्श खोजा तो परम्परावादियों ने इसे भटकी हुई स्त्री की परिवार तक की यात्रा बताया। सोबती के साहित्य के बहुकोणीय दर्पण में हर कोई अपना-अपना अक्स देख कर उसकी सराहना तो कर लेता है किंतु उनके साहित्य पर मुकम्मल काम अब तक नहीं हुआ है। इस मामले में कृष्णा सोबती मित्रो जितनी भाग्यशाली नहीं रही। मित्रो के लिए परिवार भी अपनी लचक बढ़ाता है, दायरा बढ़ाता है। कृष्णा सोबती की लेखनी की आमद से हिंदी साहित्य में जो स्पेस बनना चाहिए था वह नहीं बना। उनके साहित्य की बहुस्तरीयता से संवाद तक होता नहीं दिखाई देता। सातवें दशक में स्त्री-विमर्श के प्रभाव से हिंदी में जिन मुद्दों पर बात होनी शुरू होती है, वे सब कृष्णा सोबती पाँचवें छठे दशक में ही उठा रही थीं। *सूरजमुखी अँधेरे में* उपन्यास की नायिका रत्तिका बचपन में बलात्कार की शिकार होती है। बिना अपनी किसी ग़लती के भी उसे समाज के बदले हुए रवैये के कारण बहुत दर्द और अकेलापन झेलना पड़ता है। फिर भी उसे किसी की सहानुभूति की दरकार नहीं। उसका व्यक्तित्व स्वाभिमानी है, विश्वसनीय है। प्रेम लेने-देने की शक्ति उसकी बनी हुई है। असद से मिलते ही उसके तन-मन में जैसी सुखद टिमकियाँ-सी उठती हैं। काल के क्रूर हाथ उसे भी छीन लेते हैं। अपने मित्र दम्पती के नन्हें से बेटे कुमू के लिए उसके मन में प्यार ऐसे उमड़ता है ज्यों दूध की बूँद उमड़ी हो। उससे मिलना उसे ज़िंदगी से मिलना लगता है। उनके गृहस्थ रस के बारे में जिस चाव से सुखविभोर वर्णन रत्तिका करती है। स्वस्थ मानसिकता के व्यक्ति के ही शब्द ऐसे हो सकते हैं। अपराध समाज के प्रति होता है फिर भी उस अकेली ने सजा पाई अपराधी से भी और समाज से भी। इस कारण संवेदनशीलता का तनिक बढ़ जाना तो स्वाभाविक ही कहा जाएगा। मगर आत्मनिष्ठ, एकाकी पात्र वह क़तई नहीं लगती जैसा कि आलोचकों ने उसे बताया है। मन्नू भंडारी ने स्त्रियों को बरजने के लिए जैसे *स्त्री सुबोधिनी* लिखी थी। *सूरजमुखी अँधेरे* के पुरुष सुबोधीकरण का काम कर सकती है। रत्तिका के तमाम पुरुष-मित्र जिस उद्दंडता के साथ उससे अंतरंग होने की कोशिश करते हैं, कोई भी संवेदनशील स्त्री उसे बरदाश्त नहीं कर सकती। ज़िंदा अस्तित्व और कमरे के भीतर प्रवेश करने के लिए दी गयी खटखटाहट में कोई अंतर क्या नहीं होना चाहिए? दिवाकर जिस मानवीय संस्पर्श के साथ रत्तिका के साथ पेश आता है, उससे रत्ती के तन-मन में रस का संचार होता है। दिवाकर-रत्तिका के अंतरंग संबंध को चार-पाँच पृष्ठों में मिठास के साथ सोबती ने साधा है। प्रेम की नितांत नयी भाषा रची है— स्त्री-भाषा— इसे हिंदी-साहित्य की उपलब्धि कहा जा सकता है।

समाज और साहित्य में हम पाते हैं कि उम्र बढ़ने के साथ स्त्री का महत्त्व कम होने लगता है। चेतन तत्त्व तो काल के साथ विकसित ही होता है। जड़ तत्त्व काल के साथ जर्जर होता है। तो क्या स्त्री में जड़ तत्त्व पुरुष के मुक़ाबले ज़्यादा होता है? सोबती के साहित्य में तो यह मान्यता ग़लत लगती है। प्रौढ़ उम्र के प्रेम के स्पंदनों को बड़ी मुलायमियत से उन्होंने अपनी कृतियों में उकेरा है। दिवाकर-रत्तिका और ईशान-अरण्या का प्रेम यादगार निधि है उनके साहित्य की। *दिलो-दानिश* की महकबानो अपने सौंदर्य और रुआब से अपनी बेटी के विवाह-समारोह में सारी महफ़िल को मंत्र-मुग्ध करती है। लगता था जैसे कोई परी आ गयी हो। बेटी की शादी में परी माँ। उम्र की इसी अवस्था में वकील ख़ान साहब उसके साथ ज़िंदगी साझा करने के लिए लालायित हैं। इस तरह सोबती प्रतिरोध की शब्दावली अपनाए बिना स्त्री-विरोधी मान्यताओं को दरकाती चलती हैं। उनकी स्त्रियों में व्यक्तित्व की यह चमक अपने भीतर की ताक़त से, संघर्षधर्मिता से आती है। उनके लगभग सभी चरित्र गत्यात्मक हैं।

प्रौढ़ उम्र होने पर कृपानारायण अपनी पत्नी कुटुम्बबानो एवं गृहस्थी की ओर खिंचने लगते हैं। उनके तथा महकबानो के दोनों बच्चे भी पिता की सत्ता के कारण उस ओर झुक जाते हैं तो महकबानो अकेली रह जाती है। उसे घर से बाहर जाने के लिए जूतियाँ पहनने की लम्बे अरसे के बाद ज़रूरत पड़ी तो उसे एहसास होता है कि जूतियाँ तो अपनी थीं लेकिन पैर किसी और को दिये हुए थे। और फिर अपने पैर, अपनी चाल अपने नियंत्रण में लेना उसके नये व्यक्तित्व का प्रस्थान बिंदु बनता है।

वैद के साथ संवाद में और *हम हशमत* के चार भागों में लिखे गये संस्मरणों में सोबती ने साहित्यिक, सांस्कृतिक परिदृश्य पर व्यापक और गहन ढंग से विचार-विमर्श किया है। आलोचना को साहित्य के केंद्र में स्थापित होना उन्हें महत्त्वपूर्ण लगता है। अगर आलोचना-साहित्य सक्षम होता तो कथा-साहित्य की गुणवत्ता काफ़ी बेहतर होती। यदि कृष्णा सोबती के साहित्य की मुकम्मल आलोचना हो पाती या कम से कम उनके द्वारा उठाए गये प्रासंगिक बिंदुओं की सटीक पहचान होती तो और भी उत्कृष्ट रचनाएँ सामने आतीं। उनकी रचनाओं को पुरानी कसौटी पर ही कस के देखा गया। स्त्री होने ने भी सोबती के संघर्षों को कई गुना बढ़ा दिया। सम्पादक, आलोचक के रूप में अधिकतर निर्णायक पदों पर पुरुष ही विराजमान थे। सामान्यीकरण पुरुष के हिसाब से ही तय करने का माहौल था तो धीरे-धीरे कृष्णा सोबती जीने और लिखने में मर्दवादी मुहावरा अपनाती गयीं। भले हशमत बन कर या मर्दवादी मुहावरे में बात कह कर अच्छी कृतियाँ रची हों, मगर उसमें नया क्या था? स्त्री-दृष्टि नयी परिघटना है। प्रेम की स्त्री-भाषा रचना उनकी मौलिक उपलब्धि है।

ऐ लड़की उपन्यासिका की अम्मू कहती है कि बेटी होने से माँ निरंतरा, सदाजीवी हो जाती है। बेटी के भीतर माँ ज़िंदा रहती है। उन्हें अपने लिए इस बात का संतोष भी है और बेटी के लिए कसक भी है कि उसने अपनी बेल नहीं बनायी। पूरी कृति में बेटी ही वह गर्वोन्नत पर्वत है जिस पर होकर माँ के जीवनानुभवों को निर्झर बहता है। माँ-बेटी के भिन्न अनुभव मिल कर एक जीवन-वृत्त बनाते हैं। घर-परिवार में फँसे रहने से अम्मू की घूमने की पहाड़ों में चढ़ने की गहरी साध रह गयी है। इसलिए उन्हें सपने में भी अकसर ऊँचाइयाँ चढ़ती-उतरती जूतियाँ दिखती रहती हैं। कृष्णा सोबती के साहित्य में जगह-जगह चलने का, पहाड़ियों-वादियों को जूतियाँ पहन कर नापते जाने का इतना अधिक वर्णन आता है कि लगता है कि उन एक जोड़ी जूतियों में माँ-बेटी दोनों यात्रा कर रहे हैं। चलने की सुखद थिरकन, रोटी की लहक, पहाड़ों की चढ़ाई-उतराई ... ज़िंदगी की तमाम सुखद हलचलों से उनके पन्ने भरे होते हैं। सोबती से पहले चाव से खाते-पीते, चलते-दौड़ते स्वस्थ, गतिशील स्त्री व्यक्तित्वों का स्त्री साहित्य में अभाव था। उनकी रचनाओं से ताक़त पाने वाली स्वस्थ जीवन-बोध ग्रहण करने वाली स्त्रियों की बेल दूर-दूर तक फैल गयी है। उनके भीतर कृष्णा सोबती भी सदाजीवी हो गयी हैं। और उनकी क़लम से ही कभी कृष्णा सोबती के वे सम्भाव्य स्त्री चरित्र उकेरे जाएँगे जिनकी पदचाप इन रचनाओं में सुनाई पड़ती है।